

□ भाषा, समाज और संस्कृति

[क] : भाषा की सामाजिक उपादेयता

[ख] : भाषा, मनुष्य और समाज

[ग] : सामान्य भाषा, मानक भाषा, संपर्क भाषा

[घ] : हिन्दी भाषी समुदाय

[ङ] : भाषा, समाज और संस्कृति का अन्तःसंबंध

[च] : हिन्दी-उर्दू संबंध

[छ] : लोक-संस्कृति और हिन्दी-उर्दू भाषाएं।

प्रथम अध्याय

भाषा, समाज और संस्कृति

वस्तुतः मनुष्य भाषा का व्यवहार स्वयं से ही बातचीत करने के लिए नहीं करता, भाषा एक से अधिक मनुष्यों के बातचीत करने का माध्यम है। इसीलिए एक व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों में अपनी बोली में चाहे जितना परिवर्तन कर ले, वह जिस समाज में रहता है उसमें उसकी बोली अवश्य समझी जायेगी और इसी ढंग से वह दूसरों की बोली को भी समझेगा। भाषा भी संस्कृति का अंग होती है। इसलिए भाषा के विकास का अध्ययन संस्कृति के विकास के आलोक में होना चाहिए। भाषा चिंतन की अनेक समस्याओं की तरह भाषा की उत्पत्ति भी भाषा वैज्ञानिकों के लिए एक गंभीर चुनौती का विषय है। कुछ लोगों का मानना है कि मनुष्य का निर्माण किसी आध्यात्मिक शक्ति ने किया है और ऐसे लोग भाषा को भी ईश्वर कृत मानते हैं। किंतु अब यह मत बहुत प्रभावी नहीं रहा है। अधिकांश विद्वान प्रकृति और समाज के अन्य तत्वों की तरह 'भाषा' को भी विकासमान मानते हैं किंतु उनका प्रबल मत है कि मनुष्य में 'बुद्धि-तत्व' विशेष था, इसीलिए पशुओं या अन्य जीवधारियों में सिर्फ मनुष्य ही भाषा का निर्माण कर सका। इस संबंध में सोवियत वैज्ञानिक 'पावलोव' की यह स्थापना ध्यान देने योग्य है कि— "स्थूल चिंतन पशु में भी होता है और विचार-प्रक्रिया के निम्नतम धरातल पर पशु और मानव में अंतर नहीं है। मनुष्य भाषा की रचना दो कारणों से कर सका। उसके जीवन की परिस्थितियाँ पशुओं से भिन्न थीं। पशु भी ध्वनि संकेतों से काम लेते हैं। मानव अपनी भाषा-रचना का कार्य इसी पशु-स्तर से आरम्भ करता है। दूसरा

कारण उसकी शारीरिक विशेषताएं हैं जिनसे वह ध्वनि-संकेतों को रचने और उनका व्यवहार करने में पशुओं से अधिक सक्षम हुआ है। किसी ध्वनि-विशेष से किसी वस्तु अथवा कार्य का संबंध जोड़ना-यह व्यवहार पशु और मानव दोनों में देखा जाता है और वहीं से भाषा की उत्पत्ति आरम्भ होती है।¹

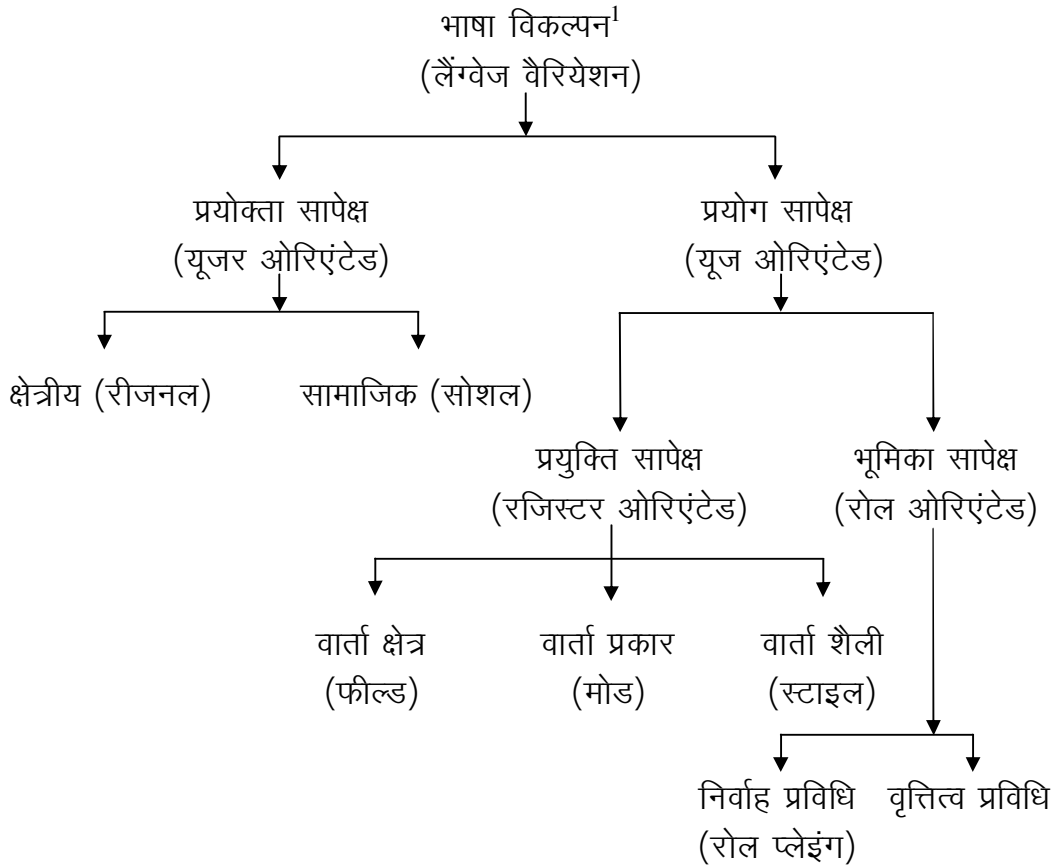
मनुष्य के 'मनुष्य' होने की पहली शर्त है—'भाषा'। बिना भाषा के हम मनुष्य और पशु में सम्यक् भेद नहीं कर सकते, पशु से मनुष्य के विकास में भाषा ही वह पहली सीढ़ी है जिसे पार कर वह मनुष्यत्व को प्राप्त करता है। भाषा अपने आप को पहचानने का एक साधन है। भाषा के बिना अस्मिता की पहचान नहीं होती। आज अगर किसी समाज को उसकी भाषा से काट दिया जाय और उसकी जगह हम उसे कोई दूसरी भाषा दे दें तो इससे हम उसकी अस्मिता को भी कहीं न कहीं से प्रभावित करते हैं। भाषा ही वह सर्वश्रेष्ठ तत्व है जिसके द्वारा हम मूल्यों का सृजन करते हैं। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य जीव सिर्फ जीने के लिए जीते हैं जबकि मनुष्य अपने द्वारा निर्मित मूल्यों का समाज के परिप्रेक्ष्य में दृढ़ता से पालन करता है और जरूरत पड़ने पर उन्हीं मानव मूल्यों के लिए मर-मिट भी जाता है। यही वह चीज है जो मनुष्य को पशु से अलग करती है। संसार में सिर्फ मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो अपने द्वारा निर्मित मानव मूल्यों को अपने से भी बड़ा मानता है, और उसकी रक्षा के लिए हमेशा प्रतिबद्ध रहता है।

भाषा चूँकि संरचना पर आधारित होती है, इसीलिए भाषा-तंत्र का स्वरूप संरचनात्मक होता है। यह भाषा तंत्र सदैव समकालिक होता है और चूँकि भाषा के बोलते ही उसके विन्यस्त होने का अनुभव होता है इसलिए ध्वनि सिद्धान्त भाषा का आधारभूत संरचनात्मक सिद्धान्त है। भाषा अपने व्यवहार में विषमरूपी होती है, क्योंकि

1 भाषा और समाज— डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० सं० 9

उसमें भाषा प्रयोग के अनेक विकल्पन मिलते हैं। इस संदर्भ में ध्यान देने वाली बात यह है कि ये विकल्पन न तो यादृच्छिक होते हैं और न ही किसी त्रुटि के परिणाम। भाषा-विकल्पन सामाजिक अर्थ का प्रकाशक भी है और भाषा विकास का प्रभावशाली कारक भी। नियम सापेक्ष होने के कारण यह विकल्पन भाषिक-व्यवस्था के भीतर एक 'उपव्यवस्था' का निर्माण करता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि भाषा अपने अमूर्त और कल्पित रूप में ही एक समरूप भाषा-व्यवस्था की धारणा को सामने लाती है, क्योंकि जितने भी प्रकार के भाषा भेद दिखाई पड़ते हैं उन सभी से संबद्ध एक व्याकरण भी देखा जा सकता है। भाषा वैविध्य, भाषा-व्यवहार के कई स्तरों और कई मामलों में दिखाई पड़ता है। इस संदर्भ में एक चित्र यहाँ दृष्टव्य है :

चित्र सं० 01



1 चित्र सं० 01, हिन्दी भाषा का समाजशास्त्र— रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, पृष्ठ सं०19

यह तो सर्वविदित है कि प्रत्येक भाषा क्षेत्र का अपना एक भिन्न समाज होता है, और मनुष्य अपने आसपास के समाज और परिवेश से ही भाषा सीखता है। मनुष्य का यह भाषा प्रेम समाज सापेक्ष होता है और उसकी भाषा समाज के भीतर ही प्रभावी होती है। इसीलिए भाषा का अध्ययन समाज के संदर्भ के बगैर अधूरा सा रहता है। समाज में रहते हुए भाषा के बिना मनुष्य की कोई गति नहीं होती है। भाषा ही मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने का सबसे बड़ा प्रमाण है और यह भी सत्य है कि भाषा के सहयोग से ही समाज का निर्माण होता है। भाषा चाहे जो भी हो उसका सदैव एक दुहरा चरित्र होता है। भाषा संप्रेषण का सशक्त माध्यम होने के साथ ही संस्कृति की संवाहक भी होती है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी को ही देख लें। यह ब्रिटेन, स्वीडन और डेनमार्क में बोली जाती है। लेकिन खासकर स्वीडेन और डेनमार्क के लोगों के लिए यह गैर-स्कैंडेनेवियाईयों के साथ बातचीत अथवा संप्रेषण का एक साधन है किंतु यह उनकी संस्कृति की भाषा नहीं है। जबकि ब्रिटेन के नागरिकों के लिए यही अंग्रेजी उनकी बातचीत, संस्कृति और इतिहास की भी संवाहक भाषा है। पूर्वी और मध्य अफ्रीका में स्वाहिली का उदाहरण लें। यह विभिन्न राष्ट्रीयताओं के बीच संप्रेषण का व्यापक माध्यम है। लेकिन तमाम राष्ट्रीयताओं में से कुछ के ही संस्कृति और इतिहास की संवाहक भाषा है। वस्तुतः 'भाषा' संस्कृत की 'भाष्' धातु से उत्पन्न है। जिसका अभिप्राय है— 'व्यक्त वाणी'। 'भाष्-व्यक्तायां वाचि'। इस कथन में भाषा के संपूर्ण लक्षण समाहित हैं। भाषाविज्ञान के संदर्भ में भाषा से हमारा आशय मनुष्य की व्यवस्थित ध्वन्यात्मक भाषा से होता है जिसमें वह बातचीत के साथ-साथ अपने इतिहास और अपनी संस्कृति को भी समृद्ध करता है। भाषा के अनेक मीमांसकों ने भाषा की परिभाषा भिन्न-भिन्न तरीकों से दी है जो इस प्रकार है।

[1] 'एडवर्ड सेपिर' के अनुसार— "विचारों, भावनाओं और इच्छाओं को स्वेच्छा से उत्पन्न प्रतीकों के माध्यम से सम्प्रेषित करने की विशुद्ध मानवीय

और यत्नज पद्धति को भाषा कहते हैं। उच्चारण अवयवों से उत्पन्न माध्यम-प्रतीक प्राथमिकता श्रावणित होते हैं।¹

[2] 'ब्लाक और ट्रेजर' के अनुसार— "भाषा यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके सहारे कोई सामाजिक समुदाय परस्पर सहयोग करता है।"²

[3] 'पी०डी० गुने' के अनुसार— "अपने व्यापक अर्थ में भाषा के अन्तर्गत ऐसे ध्वनि-संकेतों का पूर्ण योग आता है, जिसके द्वारा हम अपने विचारों और अनुभूतियों को व्यक्त कर सकते हैं, तथा जिन्हें स्वेच्छानुसार उत्पन्न किया और दोहराया जा सकता है।"³

[4] 'ईडी०जे०पी०बी० एलन' और 'एस०पिट० कार्डर' के अनुसार— "भाषा संरचित होती है, अर्थात् प्रत्येक भाषिक उक्ति किन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर संघटित होती है। ये सिद्धान्त प्रयुक्त शब्दों के रूप, शब्द-क्रम आदि का निश्चय करते हैं।"⁴

1 "Language is Purely human and non-instinctive method of Communicating ideas, emotions and desires by means of a system of voluntarily produced symbols.

These symbols are, in the first instance, auditory and they are produced by the so called organs of speech."— Edward Sapir, 1: भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा विवेचना, सं०वी०रा० जगन्नाथन, पृष्ठ सं० 16,

2 "A Language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a Social group co-operates."— Bloch and Trager, 2: वही पृष्ठ सं० 16

3 "Language in its widest sense means the sum-total of such signs of our thoughts and feelings as are capable of external perception and as could be produced and repeated at will."— P.D. Gune, 3 : वही, पृष्ठ सं० 17

4 "Language is structured, i.e. each utterance, far from being a random series of words, is put together according to some principle or set on principles. Which determines the words that occur and the form and order of the words." Ed. J. P.B. Allan & S Pit Corder, 4: वही, पृष्ठ सं० 17

[5] 'ए०एच० गार्डिनर' के अनुसार— "विचारों की अभिव्यक्ति के लिए उच्चरित ध्वनि-प्रतीकों के प्रयोग को भाषा कहते हैं।"⁵

वस्तुतः भाषा के संदर्भ में ये विदेशी विद्वानों का मत है। यद्यपि इस संदर्भ में सबके विचार अलग-अलग हैं तथापि सबने यह स्वीकार किया है कि भाषा एक सामाजिक संपत्ति है। भाषा का प्रयोग मनुष्य परस्पर विचार विनिमय के लिए करता है, और यही भाषा उसके इतिहास और संस्कृति को समृद्ध बनाती है। भाषा के संदर्भ में अनेक भारतीय विद्वान भी लंबे समय से चिंतन करते चले आ रहे हैं जिनमें से प्रमुख विद्वानों के मत यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

[1] 'डॉ० कपिलदेव द्विवेदी' के अनुसार— "भाषा एक व्यवस्थित पद्धति है। इसमें संकेतों के आधार पर अपने भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। ये संकेत वागिन्द्रिय द्वारा जन्य ही होने चाहिए और इस संकेतों का आधार यदृच्छा या मानवीय कल्पना हो। भाषा के इस मौलिक स्वरूप को समझ लेने से उनकी भ्रान्त धारणाओं और अंध-विश्वासों का समूल उन्मूलन हो जाता है।"¹

[2] व्याकरणाचार्य 'कामता प्रसाद गुरु' के अनुसार— "भाषा वह साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों पर भली भाँति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचार आप स्पष्टतया समझ सकता है। मनुष्य के कार्य उसके विचारों से उत्पन्न होते हैं और इन कार्यों में दूसरों की सहायता अथवा सम्मति प्राप्त करने के लिए उसे वे विचार दूसरों पर प्रकट करने पड़ते हैं। जगत् का अधिकांश व्यवहार, बोलचाल अथवा लिखा-पढ़ी से

1 भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शास्त्र-डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, पृष्ठ सं० 32

चलता है, इसलिए भाषा जगत् के व्यवहार का मूल है।¹

[3] 'डॉ० भोलानाथ तिवारी' के अनुसार— "भाषा परंपरा से चली आ रही है, व्यक्ति उसका अर्जन परंपरा और समाज से करता है। एक व्यक्ति उसमें परिवर्तन आदि तो कर सकता है, किंतु उसे उत्पन्न नहीं कर सकता (सांकेतिक या गुप्त आदि भाषाओं की बात यहाँ नहीं की जा रही है)। यदि कोई उसका जनक और जननी है तो समाज और परम्परा। यथार्थतः भाषा केवल मौखिक भाषा को कहना चाहिए। उसका लिखित रूप उसी मौखिक पर आधारित है और उसी के पीछे-पीछे चलता है।"³

[4] 'आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा' के अनुसार— "उच्चरित ध्वनि-संकेतों की सहायता से भाव या विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति भाषा है, अथवा जिनकी सहायता से मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय या सहयोग करते हैं, उस यादृच्छिक रूढ़ ध्वनि-संकेत की प्रणाली को भाषा कहते हैं।"²

[5] 'डॉ० उदयनारायण तिवारी' के अनुसार— "भाषा मनुष्य के प्रतीकात्मक कार्यों का प्राथमिक एवं बहुविस्तृत रूप है। इसके प्रतीक ध्वनि-अवयवों से उत्पन्न ध्वनि अथवा ध्वनि समूहों से बने होते हैं एवं विभिन्न वर्गों तथा आकारों में इस प्रकार सजाये हुए रहते हैं कि उनका संयुक्त एवं सुडौल आकार (ढाँचा) बन जाता है।"³

भारतीय और पाश्चात्य भाषा चिंतकों के मतों के अनुशीलन से जो सर्वमान्य

1 हिन्दी व्याकरण— पं० कामताप्रसाद गुरू, पृष्ठ सं० 01,

2 भाषा विज्ञान की भूमिका— डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा, तात्कालिक संदर्भ, भाषा विज्ञान का अनुशीलन, डॉ० कैलाशनाथ पाण्डेय, पृष्ठ सं० 32,

3 भाषाशास्त्र की रूपरेखा— डॉ० उदय नारायण तिवारी, पृष्ठ सं० 35

तथ्य ज्ञात होता है वह यह कि मनुष्येत्तर जीव जो बोली बोलते हैं उससे सिर्फ उनके सुख, दुःख का पता चल पाता है, किसी और बात नहीं। जबकि मनुष्य की भाषा से उसके सब विचार भली भाँति प्रकट होते हैं। इसीलिए मनुष्य की भाषा को 'व्यक्त भाषा' कहा जाता है जबकि दूसरी भाषाओं को 'अव्यक्त'।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध में 'समाज' जैसे परिभाषिक शब्द का विवेचन-विश्लेषण 'भाषा' के परिप्रेक्ष्य में किया जाना सुनिश्चित है, इसलिए मैं 'समाज' जैसे पारिभाषिक शब्द की मूल विशेषताओं पर व्यवस्थित ढंग से प्रकाश डालूँगा। सामान्यतः 'समाज' ऐसे लोगों का समूह है जो किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए मिल-जुलकर एक साथ रहते हैं। 'भाषा' के संदर्भ में जहाँ तक 'समाज' का प्रश्न है तो भाषा के बिना समाज और समाज के बिना भाषा के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। भाषा वह है जिसे एक खास भाषा समाज के सदस्य बोलते हैं। इससे यह तय है कि भिन्न-भिन्न समाज की भिन्न-भिन्न भाषा होती है। भाषा जब समाज में प्रयुक्त होती है तो वह भाषेतर उपादानों के अनुसार कई रूप ग्रहण करती है। इसके साथ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भाषा-समाज को और समाज-भाषा को निरंतर प्रभावित एवं परिवर्तित करते रहते हैं। इसी कारण से भाषा की परिभाषा में समाज का संदर्भ अनिवार्य रूप से जुड़ा है। सामाजिक-संरचना भाषा-संरचना या भाषा-व्यवहार को निर्धारित एवं नियंत्रित करती है। इस रूप में भाषा और समाज के संबंधों को देखने के पीछे कारण यह है कि समाज में वक्ता-श्रोता की आयु (बच्चों का भाषा-प्रयोग वयस्कों से भिन्न होता है), क्षेत्र (राजस्थान या दिल्ली में रहने वाले की हिन्दी पटना या उत्तर प्रदेश में रहने वाले की हिन्दी से भिन्न होगी।) सामाजिक वर्ग (उच्च वर्ग का भाषा प्रयोग, निम्न वर्ग के भाषा प्रयोग से भिन्न होता है।) आदि भेद-भाषा के व्यवहार में भी भेद लाते हैं। इन भेदों में शब्दों का चयन, वाक्यों का चयन, आदि सारी चीजें सामाजिक नियमों से बँधे होते हैं। इसके विपरीत कुछ लोगों का यह मानना है कि

भाषायी-संरचना, सामाजिक-संरचना या सामाजिक व्यवहार को निर्धारित एवं नियंत्रित करती है— जैसे हम आदरवश किसी के लिए 'आप' का प्रयोग करते हैं तो यहाँ सामाजिक संरचना भाषा को नियंत्रित करती है। यही कारण है कि हम 'तू', 'तुम' और 'आप' में से 'आप' का चयन करते हैं। यहाँ यह सिद्ध होता है कि भाषा-संरचना हमारे सामाजिक व्यवहार को भी नियंत्रित करती है। अतः भाषा के परिप्रेक्ष्य में 'समाज' का अनुशीलन करते हुए यह ज्ञात होता है कि भाषा और समाज का संबंध अटूट है। दोनों को एक दूसरे से अलग करना राष्ट्र के सांस्कृतिक और आर्थिक विकास को बाधा पहुँचाने जैसा काम है। मनुष्य अपना वार्तालाप मनुष्य से करता है न कि पशुओं से। वस्तुतः बातचीत की यह प्रक्रिया किसी न किसी समाज में ही घटती होती है, न कि जंगल और जलाशय में। ऐसी स्थिति में दोनों ही एक दूसरे के विकास के लिए सिर्फ आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य भी हैं। इस संदर्भ में एक बात यह भी ध्यातव्य है कि कुछ विद्वान 'भाषा' और 'समाज' को क्रमशः एक दूसरे से मुक्त मानते हैं किन्तु मानव जाति के हित और उसके सांस्कृतिक विकास को नकारने वाली यह मान्यता अब कारगर नहीं है। भारत एक बहुभाषाभाषी देश है। जहाँ अनेक धर्म और संप्रदाय के लोग रहते हैं। आज भी हमारे देश में मुख्य रूप से कुल आठ धार्मिक समुदाय हैं। जिसमें हिंदू (82.7 प्रतिशत जिनका एक बड़ा हिस्सा-लगभग 16 प्रतिशत-अनुसूचित जातियाँ हैं), मुसलमान (11.8 प्रतिशत), ईसाई (2.6 प्रतिशत), सिख (3 प्रतिशत), बौद्ध (0.8 प्रतिशत), जैन (0.4 प्रतिशत), पारसी (0.3 प्रतिशत), तथा यहूदी (0.1 प्रतिशत), जैन (0.4 प्रतिशत), पारसी (0.3 प्रतिशत), तथा यहूदी (0.1 प्रतिशत)। जनजातियाँ 7 प्रतिशत हैं जिनमें से कइयों के हिंदुओं के साथ घनिष्ठतम संबंध हैं, अनेक बड़े समूह ईसाई धर्म में धर्मान्तरित हो गये हैं और कुछ ने इस्लाम धर्म अपना लिया है। किंतु ऐसा नहीं है कि धर्म बदलने के साथ-साथ भाषा और समाज भी बदल जाते हैं। हम भले ही पूरे जीवन भर में सौ से अधिक धर्मों को अंगीकार कर ले लेकिन

हम चाहकर भी सौ भाषा या सौ से अधिक समाज की सांस्कृतिक और सामाजिक विशेषताओं को अंगीकार नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में भाषा को समाज से और समाज को भाषा से अलग मानना मानव जाति के लिए हितकारी नहीं होगा।

संस्कृति का एक ही अर्थ है — कर्मशीलता या कर्मशील होना। 'संस्कृति' मनुष्य द्वारा निर्मित पारिभाषिक शब्दों में सबसे अद्भुत शब्द है। वस्तुतः यह शब्द उस भौतिक यथार्थ को संकेतित करता है जो मनुष्य के 'मनुष्य' होने से संबंधित है। यह शब्द अत्यंत व्यापक और बहुसंदर्भी है। इसकी छायाएं प्रागैतिहासिककाल से लेकर शताब्दियों बाद के भविष्य तक जाती हैं। संस्कृति का विस्तार हमारे एकांत आत्मिक क्षणों से लेकर सार्वजनिक व्यवहार और संघर्ष-सृजन की समस्त गतिविधियों तक है। संस्कृति का मूल स्वभाव विरोधी तत्वों को एकीकृत करने में है न कि उसे भड़काने में। यही कारण है कि आज की मानवद्रोही संस्कृति पर विचार करते हुए 'डॉ० विनोद शाही' लिखते हैं कि— "संस्कृति की व्याख्या करने के लिहाज से हमारा दौर, अब तक की सबसे बड़ी नाकामयाबी का दौर है। वैज्ञानिक व्याख्याएं संस्कृति को नापने में नाकामयाब रही हैं तो उत्तर-वैज्ञानिक व्याख्याएं उसे विखंडित करने में मिली कामयाबी की वजह से, पैमायश की हदें ही खो देने की वजह से नाकामयाब।"¹ आमतौर पर संस्कृति से आशय शिक्षा, कला-कर्म और ललित-कलाओं की लालित्य-योजना से है। 'आचार्य नरेन्द्र देव' ने "संस्कृति को चिति की खेती कहा था।"² संस्कृति का सवाल कोई आसान सवाल नहीं है। संस्कृतियाँ अनुकूल परिस्थितियों में फलती-फूलती हैं तो प्रतिकूल परिस्थितियों में मुरझा भी जाती है। दुनिया में शुद्ध संस्कृति जैसी कोई चीज होती ही नहीं। विश्व-संस्कृति अलग-अलग देशों की संस्कृति का मिला-जुला रूप है। वह सभ्यताओं के संघर्ष से नहीं अपितु परस्पर सहयोग से

1 इतिहासबोध (संस्कृति : कल आज और कल) संपादक— लाल बहादुर वर्मा, पृष्ठ सं० 16,

2 वही, पृष्ठ सं० 43

निर्मित होती है। वस्तुतः संस्कृति जनता के उस इतिहास का उत्पादन है, जो पलटकर संस्कृति के रूप में ही अभिव्यक्त होता है। संस्कृति का काम सिर्फ विश्व को बिम्बों में अभिव्यक्त करना ही नहीं है बल्कि संस्कृति उन बिम्बों के जरिये विश्व को एक नई दृष्टि से देखने का आग्रह भी करती है। आज जिसे हम संस्कृति कहते हैं वह एक अत्यंत जटिल किंतु गतिमान परिदृश्य है जिस तक पहुँचने के लिए अब भी न तो हमारे पास संपूर्ण साधन हैं और न ही कोई मुकम्मल विचारधारा। प्रसिद्ध नृविज्ञान शास्त्री 'क्लीफोर्ड ग्रीच' (Clifford Greertz) के अनुसार "(The interpretation of Cultures), जिसे हम संस्कृति का यथार्थ कहते हैं वह वास्तव में संस्कृति-विशेष के बारे में स्थानीय धारणाओं की हमारी अपनी व्याख्या है।"¹ ग्रीच ने जब गहरी व्याख्या (Thick Description) की बात की तो शायद उनका इशारा अनेकानेक विश्लेषणों की पर्तों से तैयार यथार्थ की ओर था। ध्यान देने योग्य बात यह है कि संस्कृति सदैव संक्रमणशील एवं समाज सापेक्ष दूसरी संस्कृति से मेल-जोल बढ़ाने के लिए तत्पर रहती है और इस प्रक्रिया में समाज का हर व्यक्ति शामिल होता है। संस्कृति के स्वभाव और स्वरूप पर विचार करते हुए 'प्रियम अंकित' कहते हैं कि— "संस्कृति को लंबे समय से एक ऐसी संकल्पना के रूप में देखा जाता रहा है जिसमें वह समुन्नत और उदात्त तत्व निहित होता है जो प्रत्येक समाज में चिंतन और ज्ञान की सर्वोत्तम निधि को संजो कर रखता है।"² किसी भी संस्कृति के निर्माण में निम्नलिखित चार तत्वों— सांस्कृतिक तत्व (Cultural Trait or Element), संस्कृति संकुल (Cultural Complex), संस्कृति प्रतिमान (Cultural pattern) और संस्कृति-क्षेत्र (Cultural-Area) की केन्द्रीय भूमिका होती है। यहाँ संस्कृति के संदर्भ में 'राहुल सांकृत्यायन' का मत द्रष्टव्य है— "... संस्कृति वस्तुतः देश-जाति से संबंधित है, धर्म के साथ उसका नाता जोड़ना गौण रीति से ही हो सकता है। जाति के साथ संस्कृति या संस्कार का संबंध वैसे ही है, जैसे नये घड़े में घी या तेल भर के कुछ दिन रखकर उसे निकाल देने पर घड़े के

भीतर प्रविष्ट स्नेह का अंश बचा रहता है। एक पीढ़ी आती है, वह अपने आचार-विचार, रुचि-अरुचि, कला-संगीत, भोजन-छाजन या किसी और दूसरी आध्यात्मिक धारणा के बारे में कुछ स्नेह की मात्रा अगली पीढ़ी के लिए छोड़ जाती है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी और आगे बहुत-सी पीढ़ियाँ आती जाती रहती हैं, और सभी अपना प्रभाव या संस्कार अपने से अलग पीढ़ी पर छोड़ती जाती हैं। यही प्रभाव (संस्कार) संस्कृति है। किंतु संस्कृति भी सर्वथा अचल नहीं होती। दुनिया में कोई चीज़ स्थिर और अचल नहीं है, फिर संस्कृति ही कैसे उसका अपवाद बन सकती है? जिस प्रकार व्यक्ति के मानस-पटल पर पुराने अनुभव स्मृति के रूप में अवशिष्ट रहते हैं, और समय पाने पर स्मृतियाँ भी धूमिल होती जाती हैं, वैसे ही पूर्वजों से चले आते हमारे संस्कार (संस्कृति) धूमिल होते हैं, रूपान्तरित होते हैं, तो भी प्रति पीढ़ी के संस्कारों का प्रवाह कुछ अपनी विशेषता या व्यक्तित्व रखता है। काशी तक पहुँचने में गंगा का वही जल नहीं रह जाता, जो गंगोत्री में देखा जाता है; तो भी गंगा का अपना एक व्यक्तित्व है।....."1 संस्कृति कहती है कि मुक्ति (Imancipation) सिर्फ उसकी होती है जो प्रयास करता है। भारतीय संस्कृति कहती है कि ऐसा सिर्फ एक का होता है, यहूदी कहता है कि पूरे समूह का होता है। जबकि मार्क्सवाद का मानना है कि मुक्ति सबकी होती है, चाहे कोई कोशिश करे या न करे और यह व्यक्ति वाह्य से होगा न कि व्यक्ति आंतर से। इसी से जुड़ा है इस संस्कृति का भविष्य। मार्क्सवादियों ने कहा कि संस्कृति का कोई भविष्य नहीं होता। उसकी जगह अवश्य ही समाजवाद ले लेगा। इसके लिए मार्क्सवादियों ने कई तर्क भी दिये। एक तो यह कि संस्कृति अधिरचना की चीज है आशय यह कि आर्थिक संबंधों में परिवर्तन आते ही संस्कृति भी परिवर्तित हो जाएगी। दूसरा यह कि संस्कृति का प्रस्फुटन विश्वव्यापी

1 वागर्थ, मार्च 2008, मासिक, अंक 152 के आवरण पृष्ठ के 'देश' शीर्षक से, संपादक— एकांत श्रीवास्तव, कुसुम खेमानी

चरण तक पहुँचने से पहले ही नष्ट हो जाएगा। जबकि इसकी तुलना में समाजवाद उस विश्वव्यापी चरण की ओर तेजी से बढ़ रहा है। और एक नई जीवन पद्धति भी विकसित कर रहा है जो आत्मगत (Subjective) न होकर विषयगत, (Objective) है और जिसका मूलाधार उत्पादन, वितरण और वस्तुओं की अदला-बदली है। कहना न होगा कि संस्कृति की अवधारणा सामाजिक विज्ञान की जटिलतम अवधारणाओं में से एक है। ऐसा सिर्फ इसलिए नहीं है कि संस्कृति में रीति-रिवाज, आदतें, मानसिकताएं जैसे अनेक लक्षण शामिल हैं जिनकी मात्रात्मक परख अत्यंत कठिन है ऐसा इसलिए भी कि संस्कृति का प्रयोग अनेक विद्वानों ने अलग-अलग अर्थों में किया है। जैसे आधिकारिक घोषणाओं एवं समाचार बुलेटिनों में संस्कृति शब्द का प्रयोग मुख्यतः कलात्मक-सृजन, बौद्धिक उपलब्धियों के संदर्भ में होता है। इस अर्थ में हम भारतीय संस्कृति उसे मानेंगे जिसमें हमारे साहित्य, शास्त्रीय संगीत, लोकनृत्य और ललित कलाएं आदि प्रतिबिम्बित हों। दूसरी ओर मानवशास्त्री आदि संस्कृति शब्द का प्रयोग बिल्कुल भिन्न अर्थ में करते हैं। समाजविज्ञान या खासकर मानवशास्त्र में संस्कृति शब्द का प्रयोग किसी समुदाय की सम्पूर्ण जीवन शैली अर्थात् उसके साझे जीवन मूल्यों, विश्वासों, धर्म, मनोरंजन एवं रीतिरिवाज के साथ-साथ उसके पर्वों आदि की लोकोपकारिता को दर्शाने में होता है। इस संदर्भ में संस्कृति का आशय महान कलाकारों और चिंतकों की उपलब्धियों पर उतना नहीं होता जितना समुदाय की दैनिक उन सारी गतिविधियों से होता है जो पारंपरिक रूप से लगातार अपनायी जा रही हों। इस दृष्टि से 'फ्रांस फानों' का एक कथन अवलोकनीय है— "संस्कृति प्रथमतः राष्ट्र की अभिव्यक्ति होती है। उसकी तरजीहों की अभिव्यक्ति, उसकी रूढ़ियों और पैटर्नों की अभिव्यक्ति। समाज के हर दौर में नये मूल्य, नए 'टैबू' और नए 'पैटर्न' बनते रहते हैं। राष्ट्रीय संस्कृति इन सब आकलनों का समुच्चय होती है। वह समाज में हर स्तर पर अंदर और बाहर से होने वाले विस्तारों की अभिव्यक्ति होती

है। ... राष्ट्र संस्कृति की शर्त मात्र नहीं, उसकी फलदायिता, उसका सतत् नवीकरण और गहनीकरण है। वह आवश्यकता है। राष्ट्रीय अस्तित्व के लिए संघर्ष संस्कृति को गति प्रदान करता है और सृजन के द्वार खोलता है।...¹ वस्तुतः सभ्यता का संबंध मनुष्य के बाह्याचार से है अर्थात् समाज में उसके उठन-बैठन, खान-पान, बातचीत आदि से, जबकि संस्कृति का प्रश्न उसकी मानसिकता से जुड़ा हुआ है— उसकी सृजनात्मक गतिविधियाँ और तज्जन्य सौन्दर्यबोधात्मक अभिरुचियाँ आदि संस्कृति के विवेचन के विषय हैं। 'संस्कृति' नामक इस पारिभाषिक शब्द पर विचार करते हुए 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी' लिखते हैं कि— "मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी है। नाना ऐतिहासिक परंपराओं के भीतर से गुजर कर और भौगोलिक परिस्थितियों में रहकर संसार के भिन्न-भिन्न समुदायों ने उस महान् मानवी संस्कृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है। नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान् सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है, जिसे हम 'संस्कृति' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं।"² वर्तमान भारतीय संस्कृति वास्तव में वैदिक संस्कृति का ही एक विकसित रूप है। संस्कृति के संदर्भ में दो परिभाषाएं विशेष रूप से प्रचलित हैं। एक सीमित अर्थ में, दूसरा व्यापक अर्थ में। व्यापक अर्थ में मानव द्वारा निर्मित आध्यात्मिक और अधिभौतिक विश्व का संस्कृति में समावेश होता है जबकि सीमित अर्थ में वह सिर्फ मानव की मानसिक उन्नति का द्योतक है। संस्कृति के व्यापक अर्थ पर विचार करते हुए

1 इतिहासबोध (संस्कृति : कल आज और कल। जन- जून 09 वर्ष 19 अनियतकालीन) संपादक— लाल बहादुर वर्मा, पृष्ठ सं० 151-152 ('रेचेड ऑफ अर्थ' के अध्याय 'ऑन नेशनल कल्चर' का सार)

2 अशोक के फूल-हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ सं० 68

‘तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी’ कहते हैं कि— “सच बात तो यह है कि संस्कृति मानव द्वारा प्रकृति पर प्राप्त क्रमबद्ध विजय की कहानी है। अपनी आत्मा और बाह्य विश्व पर विजय पाकर ही मानव उन्नत हो सकता है।”¹ संस्कृत मनुष्य की समग्रता को रेखांकित करती है। सामाजिक विखंडन संस्कृति का विरोधी है। यही कारण है वर्ग-समाज संस्कृति को क्षति पहुँचाते हैं और संस्कृति वर्ग-भेद को खारिज करती है। मुनाफाखोरी और भुखमरी दोनों मनुष्य को मवेशी बनाते हैं। समाज में पशुता जितनी बढ़ेगी, साहित्य और संस्कृति की जगह उतनी ही कम होती जाएगी। इस संदर्भ में ‘एलेन सिंगवुड’ का कहना है कि— “अविकसित संस्कृतियों में मिथक एवं इतिहास के एक-दूसरे में विलीन हो जाने की प्रवृत्ति रहती है। मौखिक रिवाज पर पारम्परिक तत्व हावी रहते हैं जिससे विश्लेषणात्मक बौद्धिकता की कोई संभावना नहीं रहती। सिर्फ लेखन और बौद्धिक कुशलताओं की प्रगति से ही संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को पृथक कर देखा जा सकता सकता है और आलोचनात्मक मूल्यांकन की संभावना तलाश की जा सकती है।”² संस्कृति का एक ऐतिहासिक संदर्भ होता है जिसकी उपेक्षा करना संभव नहीं है। ऐतिहासिक संदर्भ खोने से संस्कृति मरुस्थल में भटकने लगती है, उसे दिशा का ज्ञान नहीं रह जाता, यही हाल इतिहास का भी होता है जब वह सांस्कृतिक संदर्भ खो देता है। संस्कृति पर विचार करते हुए ‘सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय’ लिखते हैं कि— “संस्कृति मूलतः एक मूल्य-दृष्टि और उससे निर्दिष्ट होने वाले निर्माता प्रभावों का नाम है— उन सभी निर्माता प्रभावों का जो समाज को, व्यक्ति को, परिवार को, सब के आपसी संबंधों को, श्रम और संपत्ति के विभाजन और उपयोग को, प्राणि-मात्र से ही नहीं, वस्तु-मात्र से हमारे संबंधों को, निरूपित और निर्धारित

1 वैदिक संस्कृति का विकास-तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी, अनुवादक-मोरेश्वर दिनकर पराड़कर, पृष्ठ सं० 02

2 वागर्थ, नवंबर 2007, मासिक, अंक 148 के आवरण पृष्ठ के ‘देशान्तर’ शीर्षक से, संपादक - एकांत श्रीवास्तव, कुसुम खेमानी,

करते हैं। संस्कृतियाँ लगातार बदलती हैं क्योंकि मूल्य-दृष्टि भी लगातार बदलती है, क्योंकि भौतिक परिस्थितियाँ भी लगातार बदलती हैं। लेकिन संस्कृति केवल भौतिक परिस्थिति का परिणाम नहीं है क्योंकि वह अनिवार्यता भौतिक जगत् और जीव-जगत् के साथ मानव-जाति के सम्बन्ध पर आधारित है और वह सम्बन्ध ज्ञान के विकास और संवेदन के विस्तार के साथ-साथ बदलता है। संस्कृति उन संबंधों का निरूपण भी करती है, निर्धारण भी करती है, मूल्यांकन भी करती है— और उन्हीं संबंधों की अभिव्यक्ति भी है।¹ यहाँ संस्कृति के संदर्भ में समाजशास्त्री 'श्यामाचरण दुबे' का कथन भी अवलोकनीय है— "संस्कृति की अनेक श्रेष्ठ उपलब्धियाँ राजाश्रय के कारण संभव हुई हैं। इस क्षेत्र में यूरोप में चर्च ने महत्वपूर्ण योगदान किया, भारत में मंदिरों ने। दोनों को राज्य का समर्थन प्राप्त था। इस्लामी संस्कृति के उत्कृष्ट सर्जन में भी धर्म और सत्ता का सहयोग था। जैन और बौद्ध स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रकला की पृष्ठभूमि में भी यही शक्ति थी। आज के बदले हुए परिवेश में सत्ता की भूमिका गौण नहीं हुई।"² परंपरा के प्रति अनावश्यक मोह संस्कृति की स्वतः स्फूर्त स्वाभाविक धारा को अवरुद्ध कर सकता है। अतः सांस्कृतिक नीति के तहत परंपरा का मूल्यांकन भी लगातार होना चाहिए। प्रयोग के प्रति संस्कृति के नियामकों का दृष्टिकोण उदार न होने पर संस्कृति रुग्णता का शिकार हो जाएगी। शास्त्रीय शुद्धता तो एक सीमा तक अपेक्षित है परंतु असहमति का साहस, विद्रोह और विरोधात्मक भावनाएं भी संस्कृति को समृद्ध करती हैं। विदेशियों ने हमारी संस्कृति को आध्यात्मवादी कहा और हम लोगों ने इस निरूपण को बड़े आत्मगौरव के साथ स्वीकार कर लिया। जबकि यह बात सत्य नहीं है। हमारे पौराणिक आख्यान प्रसंगों से भरे पड़े हैं। अर्थशास्त्र और कामशास्त्र में हमारी उपलब्धियाँ आकर्षित करने वाली हैं। संस्कृत भाषा अध्यात्मनिरपेक्ष

1 केन्द्र और परिधि - अज्ञेय, पृ०सं. 290

2 परंपरा इतिहास बोध और संस्कृति - श्यामाचरण दुबे, पृ०सं. 82

विषयों का अक्षय भंडार है। महत्वपूर्ण बात यह है कि पहले हमने इन्हें एक नैतिक आधार दिया और अब हम ही इसका अवमूल्यन कर रहे हैं। आज हमारी संस्कृति अनुकरण की भोगवादी और लिप्सावादी संस्कृति बन गयी है। आर्थिक उदारता, खुलापन और वैश्वीकरण संसार भर में एक तरह की अप-संस्कृति फैला रहे हैं। हर विराट संस्कृति के इतिहास में प्रतिसंस्कृति की धाराएं गतिशील रहती हैं। ये मूल संस्कृति के लक्ष्यों में परिवर्तन और परिवर्धन भी करती हैं। चार्वाक और लोकयत जीवन दर्शन ऐसी ही धाराओं का नाम है। भक्ति आंदोलन ने मात्र समर्पण की भावना को ही प्रश्रय नहीं दिया अपितु उसने विद्रोह और असहमति का साहस भी किया। आज के बदलते सांस्कृतिक परिदृश्य का सबसे घातक पहलू है— अपसंस्कृतियों का उदय। इनके व्यापक प्रभाव से समाज के कुछ विशिष्ट अंग सामाजिक सरोकारों से कट जाते हैं और उन पर व्यक्ति केंद्रित भोगवादी जीवनदृष्टि हावी हो जाती है। 'गाँधीजी' ने कहा था कि— “हम स्वस्थ सांस्कृतिक प्रभावों के लिए अपने दरवाजे खिड़की खुले रखें पर अपनी बुनियाद पर कायम रहें। उपभोक्ता संस्कृति हमारी सामाजिक नींव को ही हिला रही है। यह एक बड़ा खतरा है। भविष्य के लिए यह एक बड़ी चुनौती है।”¹

जहाँ तक मेरी अपनी सोच है वह यह कि समाज का मूल्यांकन उसकी संस्कृति को खारिज करके नहीं किया जा सकता और समाज एवं संस्कृति को जोड़ने वाली सबसे प्रभावी चीज 'भाषा' है भाषा के द्वारा ही समाज और संस्कृति का मूल्यांकन होता है। वस्तुतः समाज-संस्कृति की किसी एक युग से आबद्ध अवस्था का नाम है। संस्कृति एक व्यापकतम वस्तु है और समाज उसका एक समय से बँधा हुआ रूप है। संस्कृति एक दीर्घकालिक ढाँचा है जिसके भीतर हमारे समाज की भावनाएं आकार लेती हैं। समाज के साथ भाषा का संबंध भी इसी संदर्भ के भीतर निहित है। इस संदर्भ में 'अज्ञेय' का मानना है कि— “जैसे समाज कहने पर मैं संस्कृति की समग्र

1 समय और संस्कृति— श्यामाचरण दूबे, पृष्ठ सं० 174

और सतत प्रक्रिया के किसी एक देश-काल में बँधे हुए रूप को सामने लाता हूँ, उसी तरह समाज के साथ जब भाषा को जोड़ता हूँ तो उसकी भी उसी काल-सीमा के भीतर की अवस्था पर विचार करता हूँ।¹ इसलिए हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जैसे-जैसे समाज और उसके सांस्कृतिक तत्त्वों का क्षरण होता है वैसे-वैसे उसकी भाषा भी कमजोर पड़ जाती है। यही कारण है कि अरबी, संस्कृत और अपभ्रंश आदि भाषाएं अब उतनी लोकप्रिय नहीं रही।

वस्तुतः 'भाषा' का प्रयोग 'मानव समुदाय' करता है और इस मानव समुदाय का अपना एक समाज होता है और उस समाज विशेष की अपनी एक संस्कृति भी होती है। इसीलिए कभी-कभी हम देखते हैं कि एक राष्ट्र विशेष की एक से अलग संस्कृतियाँ एक से अलग भाषाएं और उनका अपना-अपना समाज होता है। भारत और चीन इसके प्रमुख उदाहरण हैं। किंतु इस विशेषता से किसी की एकता खतरे में नहीं पड़ती क्योंकि विश्व की अधिकांश भाषाएं, संस्कृतियाँ और समाज सहिष्णु और संयोगवादी हैं। संस्कृति और भाषा से ही मनुष्य के सामाजिक स्तर का पता चलता है। बिना समाज के संस्कृति की सत्ता असंभव है, और भाषा संस्कृति की सत्ता के लिए एक अनिवार्यता है। भाषा संस्कृति के अनुरूप ही बनती सँवरती है। समाज और संस्कृति का महत्व भाषा के संदर्भ में ही स्थापित होता है। भाषा का प्रयोग हमें समाज और संस्कृति की संरचना का परिचय देता है। समाज, भाषा और संस्कृति का ज्ञान धर्म और दर्शन के अन्तर्गत न होकर एक तरह से विज्ञान के अंदर होता है। इन सब का आधार कोई शास्त्रीय या अति-मानवीय परंपरा नहीं है, बल्कि मानवीय आधार और नैतिक तर्क है। ये वास्तविक और तथ्यात्मक हैं, विकल्पात्मक या अलौकिक नहीं। भाषा पर जिस वर्ग का जितना अधिकार होगा वह वर्ग उतना ही उन्नत और सुसंस्कृत होगा।

[क] भाषा की सामाजिक उपादयेता :

भाषा एक अर्जित संपत्ति है और व्यक्ति इसका अर्जन समाज से करता है। भाषा का पूर्वापर संबंध भी समाज से ही होता है। इसलिए भाषा एक सामाजिक संस्था है। भाषा से समाज को एक व्यवस्था मिलती है। यूँ तो अकेले में भी हमारा चिंतन भाषा के सहारे ही होता है किंतु यह सामान्य भाषा 'मुखर भाषा' से भिन्न है जो समाज पर अपना प्रभाव रखती है। व्यक्ति की भाषा समाजानुकूल होती है अगर हम अंग्रेजी समाज के नागरिक हैं तो हमारी भाषा भी अंग्रेजी ही होगी। भाषा का प्रधान उद्देश्य ही सामाजिक व्यवहार है। अकेले व्यक्ति को तो भाषा की कोई जरूरत ही नहीं होती। जहाँ समाज होता है वहीं भाषा होती है। समाज में परस्पर व्यवहृत होने से ही भाषा का विकास होता है। बच्चा जन्म से ही भाषा नहीं सीख लेता वह जिस समाज में रहता है उसी की भाषा को धीरे-धीरे वह व्यवहार रूप में सीखता है। समाज से दूर रखे गये बच्चे समाज विशेष की भाषा से भी दूर हो जाते हैं। मिस्र के राजा 'सेमिटिकुस' तथा भारत के सम्राट 'अकबर' द्वारा मानव संपर्क से दूर रखे गये बच्चों के उदाहरण विशेष रूप से अवलोकनीय हैं। 'डॉ० कपिलदेव द्विवेदी' के अनुसार—

“भाषा का सामाजिक पक्ष ही प्रमुख है। सामाजिक परिवेश में आकार ही भाषा का स्वरूप निखरता है। भाषा के सामाजिक रूप को श्री द सोसूर ने लांग (Langue) नाम दिया है। इसके लिए अंग्रेजी टंग (Tongue) शब्द प्रचलित है। इसको 'समष्टि वाक्' कहा जा सकता है। विश्व की विभिन्न प्रान्तीय और राष्ट्रीय भाषाएं इसी श्रेणी में आती हैं। xxx भाषा का यह सामाजिक पक्ष ही है, जो चिरन्तन होते हुए भी अद्यतनीन है, सनातन होते हुए भी नित-नवीन है, प्रतिक्षण परिवर्तित होते हुए भी अनश्वर एवं शाश्वत है। व्यक्तिगत परिवर्तन भाषा के किसी एक अंश को ही प्रभावित कर सकते हैं। सामाजिक पक्ष में ही आदान-प्रदान की प्रक्रिया चलती है, जिसका वर्णन ऊपर किया

गया है।¹ भाषा की सामाजिक उपादेयता पर 'जे० फिशमैन' और 'हेलहाइम्स' ने बड़ी गंभीरता से विचार किया है। इन विद्वानों का मानना है कि भाषा और समाज में निरंतर घात-प्रतिघात होता रहता है इससे भाषा और समाज दोनों ही एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। भाषा में केवल भाषिक संरचना ही नहीं, सामाजिक संरचना भी समाहित होती है। निष्कर्षतः भाषा समाज को और समाज भाषा को परस्पर संस्कार देते हुए आगे बढ़ते हैं।

[ख] भाषा, मनुष्य और समाज:

यह सर्वविदित तथ्य है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका व्यक्तित्व, उसका चिंतन और उसका व्यवहार सब कुछ समाज सापेक्ष होता है। दूसरी तरफ, समाज का विकास भी मनुष्य द्वारा स्थापित मानव मूल्यों के बीच से ही होता है। समाज और मनुष्य दोनों को जोड़ने का काम भाषा करती है। भाषा के माध्यम से ही मनुष्य अपने समाज और संस्कृति से जुड़ता है। मनुष्य और समाज के संयोग की इस प्रक्रिया को विद्वानों ने समाजीकरण की संज्ञा दी है। समाजीकरण के प्रभाव से ही मनुष्य एक विशिष्ट दिशा में, विशेष ढंग से भाषिक और सामाजिक व्यवहार करता है। यही कारण है कि भाषा, मनुष्य और समाज का अस्तित्व क्रमशः एक दूसरे के अस्तित्व पर निर्भर है।

[ग] सामान्य भाषा, मानक भाषा, संपर्क भाषा:

यदि प्रत्येक क्षेत्र में सिर्फ अपनी ही भाषा का प्रचलन हो तथा सामान्य भाषा का कोई आदर न हो तो इसके दूरगामी परिणाम बहुत घातक हो सकते हैं। राष्ट्र या उस क्षेत्र के सामाजिक व्यवहार और सांस्कृतिक स्तर में गिरावट आ सकती है। ऐसी अनेक

1 भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शास्त्र— डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, पृष्ठ सं० 42

भाषा वैज्ञानिक उलझने पैदा हो सकती है जिससे आज भी अफ्रीका और अमेरिका के आदिवासी पार नहीं पा रहे हैं। शिक्षा के प्रचार-प्रसार, रेडियो और सिनेमा के प्रभाव, औद्योगिक नगरों का विकास, सरकारी नौकरों के स्थानांतरण एवं सांस्कृतिक चेतना के कारण क्षेत्रीय भाषाओं का स्थान सामान्य भाषा ले लेती है। यूरोप की हजारों बोलियाँ पिछली शताब्दी में लुप्त हो गयीं। हिन्दी भारत की एक सामान्य भाषा है। इसका निर्माण सभी बोलियों के सहयोग से हुआ है। यह बात सही है कि आज जो हिन्दी का रूप है वह कल नहीं था। किंतु यह लगातार परिवर्तित और परिवर्धित होते हुए भी लोकप्रिय बनी हुई है। पहले यह दिल्ली, मेरठ और इसके आसपास के क्षेत्रों में बोली जाती थी। फिर यह साधु-संतों और भक्तों के बीच जा पहुँची। थोड़ी ही देर में यह व्यवसाय की भाषा भी बन गयी। दो विश्वयुद्धों में अनेक सैनिकों ने इसका व्यवहार किया। गाँधीजी के राष्ट्रीय आंदोलन ने इसके क्षेत्र को और भी व्यापक बनाया। हिन्दी प्रदेश के व्यापारी जहाँ भी गये वे (देश-विदेश) इसका भरपूर प्रचार-प्रसार किये। राष्ट्र की सुरक्षा में भी यह भाषा एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। सामान्य भाषा का विकास जनता की राष्ट्रीय भावना के विकास से जुड़ा हुआ है। जिस देश में अनेक बोली और भाषाएं हो वहाँ एक सामान्य भाषा का होना अनिवार्य है। सामान्य भाषा शासक और शासित दोनों की प्रतिष्ठा का परिचायक होती है और यही भाषा अपनी जनप्रियता की बदौलत आगे चलकर राष्ट्रभाषा पद पर प्रतिष्ठित भी हो जाती है। शासन और शिक्षा में सामान्य भाषा का ही लिखित रूप व्यवहृत होता है। अतः राजभाषा और साहित्यिक भाषा उस प्रदेश विशेष या संपूर्ण राष्ट्र की सामान्य भाषा ही हुआ करती है। भाषा की यह सामान्यता जितनी बढ़ती है, भाषा उतनी ही लोकप्रिय और दीर्घजीवी हो जाती है।

वस्तुतः सामान्य भाषा किसी राष्ट्र की वह प्रचलित भाषा होती है जिसे उस राष्ट्र के नागरिक आसानी से लिख-पढ़ सकें और वार्तालाप में भी उन्हें कोई परेशानी

न हो। ऐसी भाषाओं में 'डॉ जमेन हाफ की बनाई 'एसपरैतो' भाषा विशेष उल्लेखनीय है। कुछ लोग इसे 'विश्व-भाषा' भी कहते हैं। इस भाषा में अनेक पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं। दूरदर्शन और आकाशवाणी के कार्यक्रमों के प्रसारण में भी इस भाषा से मदद ली जाती है। खुद 'दिल्ली' में भी इसके अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार की अन्य भाषाओं में 'इंडो', 'नोवियल', 'इंटरलिंगुवा', और 'ऑक्सिडेंटल' आदि भाषाएं प्रमुख हैं। भारत के संदर्भ में अगर बात की जाये तो भारत की सामान्य भाषा 'हिन्दी' है।

सभ्यता के विकसित होने के साथ-साथ यह भी आवश्यक हो जाता है कि उस क्षेत्र या देश विशेष की एक मानक भाषा हो। जिसमें राष्ट्र के सरकारी कामकाज और जनता से संवाद की स्थिति बनी रहे। 'मानक भाषा' के कई नाम हैं। 'अंग्रेजी' में इसे 'स्टैंडर्ड लैंग्वेज' (Standard language) या 'क्वाइन' (Koine) कहते हैं। 'क्वाइन' यूनानी भाषा के विशेष रूप को भी कहते हैं जो क्षेत्र-विशेष की 'टकसाली भाषा' होती है। मानक भाषा का रूप पूरे क्षेत्र में एक जैसा ही नहीं होता। प्रादेशिक बोलियों का प्रभाव भी उस पर पड़ता है जिसके कारण उसके लिखित और मौखिक रूप में भी अंतर आ जाता है। यह अंतर हम व्याकरण, शब्द-समूह और उच्चारण में भी देख सकते हैं। जैसे भोजपुरी के लोग 'दिखाई दे रहा है' के स्थान पर 'लौक रहा है' का प्रयोग करते हैं। मानक भाषा 'भाषा' का आदर्शतम और निखरा हुआ रूप होता है। इसे आदर्श भाषा, जातीय भाषा और राष्ट्रीय भाषा के नाम से भी जाना जाता है। वस्तुतः "कई विभाषाओं में व्यवहृत होने वाली एक शिष्ट परिगृहित विभाषा ही भाषा (मानक भाषा) कहलाती है।"¹ भाषा का लिखित रूप व्याकरण के नियमों में बँधकर स्थिर होता है। भाषा को मानकीकृत या परिनिष्ठित करने का अर्थ उसमें एक रूपता लाना है।

1 भाषा विज्ञान— डॉ० श्याम सुंदर दास, पृष्ठ सं० 29

इससे भाषा एक आदर्श रूप को प्राप्त होती है। वस्तुतः मानकीकरण से भाषा की व्यापकता में वृद्धि होती है। मानक भाषा का व्यवहार करने वाला समाज अपेक्षाकृत अधिक एकीकृत होता है। साहित्य ही नहीं अपितु शासन और सत्ता के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान का माध्यम बन जाने के बाद भी भाषा की विविधता समाप्त हो जाती है और वह एक रूप हो जाती है। खड़ी बोली हिन्दी का इतिहास हमारे सामने है। आज वह एक सीमित क्षेत्र से उठकर ही मानक भाषा का दर्जा पा सकी है। मानक भाषा किसी क्षेत्र विशेष की मातृभाषा न होकर अपने स्वभाव में क्षेत्रातीत होती है। मानक भाषा बनने का अर्थ ही है बोलीगत विशिष्टताओं का लोप। किंतु इसके साथ ही जीवंत भाषा में मानकीकरण की प्रक्रिया सदैव गतिशील भी रहती है। जैसे— पहले 'बहन' को बहिन लिखा जाता था और 'दुकान' को 'दूकान'। भाषा में यह सुधार मानकीकरण द्वारा ही संभव हुआ। मानक भाषा हिन्दी के संदर्भ में एक बात और भी ध्यातव्य है—एक हिन्दी संस्कृतनिष्ठ है जो प्रायः कविता, निबंध, संस्मरण और ज्ञान विज्ञान की चर्चा में व्यवहृत होती है, दूसरी वह है जिसमें उर्दू के शब्दों का बेरोकटोक व्यवहार होता है। हमारा कथा साहित्य इसका उत्कृष्ट नमूना है। इनमें से कौन सा रूप मानक और शिष्ट है, इस संदर्भ में मेरा साफ मत है कि दोनों ही रूप मानक और शिष्ट हैं। किसी का किसी से जरा भी विरोध नहीं है। आज हिन्दी के परिनिष्ठित रूप में ही हमारे भाषाशास्त्री, व्याकरणाचार्य, महापुरुष और साहित्यकार अपना चिंतन और सृजन कर रहे हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी, राजभाषा हिन्दी और साहित्यिक हिन्दी तीनों का स्रोत यही परिनिष्ठित (मानक) हिन्दी ही है। मानक भाषा पर विचार करते हुए 'डिक्शनरी ऑफ लिंग्विस्टिक्स' में 'रे' और 'गॉइजर' कहते हैं कि— "किसी भाषा की उस विभाषा को परिनिष्ठित भाषा कहते हैं, जो अन्य विभाषाओं पर अपनी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक एकता स्थापित कर लेती है और उन विभाषाओं के बोलने वाले लोग भी उस भाषा को सबसे उपयुक्त,

समझने लगते हैं।¹ 'मानक भाषा' के संदर्भ में 'डॉ० रामविलास शर्मा' कहते हैं कि—
"जिसे मानक भाषा कहा जाता है, वह आधुनिक समाज में जातीय भाषा होती है। इस जातीय भाषा के अनेक रूप हो सकते हैं, पुरानी लघुजातियों की भाषाएं विद्यमान हो सकती हैं। दकनी जातीय भाषा हिन्दी की एक बोली है। कलकतिया हिन्दी बम्बइया हिन्दी जातीय भाषा के दो रूप हैं, हिन्दी की दो बोलियाँ हैं। इनसे भिन्न कोटि में ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि पुरानी लघु जातियों की भाषाएं हैं जो अब जातीय भाषा हिन्दी की उपभाषाएं अथवा बोलियाँ बन गई हैं।"²

संपर्क भाषा की उपयोगिता उस राष्ट्र के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है जहाँ एक से अधिक भाषाएं व्यवहार में हों। भारत की संपर्क भाषा अंग्रेजी और हिन्दी है। हमारे संविधान में तीसरा प्रावधान ऐसी भाषा का है जो विभिन्न राज्यों के बीच संप्रेषण-सेतु का दायित्व निर्वाह करे और जिसका प्रयोग संपूर्ण स्तर पर हो सके। संविधान के अनु०343 (1) में इसी उद्देश्य से संघ की राजभाषा हिन्दी और देवनागरी लिपि को मान्यता मिली। चूंकि संविधान के निर्माण से पूर्व सरकारी कामकाजों में अंग्रेजी का प्रयोग होता था और हिन्दी को अंग्रेजी के तुरंत बाद लाना व्यावहारिक दृष्टि से थोड़ा कठिन था। ऐसे में संविधान के अनुच्छेद 343 (2) में यह कहा गया कि संविधान प्रभावी होने के पंद्रह वर्ष बाद तक राजकीय कामों में अंग्रेजी का प्रयोग होता रहेगा। इस व्यवस्था के पीछे तर्क यह था कि पंद्रह वर्षों तक प्रशासक हिन्दी के प्रयोग के लिए अपने आपको तैयार कर लेंगे, किंतु इसी बीच अहिन्दी भाषियों ने हिन्दी का विरोध शुरू कर दिया। मामले को बढ़ता हुआ देखकर सन् 1967 में राजभाषा संशोधन

1 भाषा विज्ञान का अनुशीलन— डॉ० कैलाशनाथ पाण्डेय, पृष्ठ सं० 41-42, ("The dialect of language which has gained literary or cultural supremacy over the other dialects and is accepted by the speakers of other dialects as the most proper form of language."— Dictionary of Linguistics— Rei and Gaynor)

2 भाषा और समाज-रामविलास शर्मा, पृष्ठ सं. 46-49

अधिनियम बना जिसमें यह घोषणा हुई कि 1965 के बाद भी राजकीय कामों में हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी का भी सह राजभाषा के रूप में प्रयोग होता रहेगा। इस घोषणा का परिणाम यह हुआ कि राज्यों को भाषा संबंधी निर्णय लेने में छूट मिल गयी। जिससे अंग्रेजी का प्रभाव बढ़ता गया। अब स्थिति यह हो गयी है कि सारा काम अंग्रेजी में होता है और उसका बाद में अनुवाद प्रकाशित कर दिया जाता है। उपर्युक्त अधिनियम के परिणामस्वरूप अंग्रेजी और अन्य भारतीय भाषाओं के संपर्क से द्विभाषिकता का प्रभाव अधिक व्यापक हुआ है। इसीलिए सरकार ने त्रिभाषा सूत्र की स्थापना भी की है जिसके तहत भारत के सभी शिक्षालयों में तीन भाषाएं सिखाई जानी चाहिए।

[1] मातृभाषा/ग्रामीण बोली

[2] अधिसंख्यक (प्रांतीय) भाषा

[3] हिन्दी-अंग्रेजी (संघीय)

संपर्क भाषा का सर्वाधिक प्रयोग दो अन्य भाषा-भाषी राज्यों के मध्य देखा जा सकता है। जैसे—जब 'बंगाल' का नागरिक 'तमिलनाडु' के किसी नागरिक से बात करेगा तो उनकी संपर्क भाषा 'अंग्रेजी' होगी न कि 'बंगला' या 'तेलगु' क्योंकि दोनों एक दूसरे की मूल भाषाओं से अनभिज्ञ हैं। लेकिन जब कोई 'हिन्दी' भाषी नागरिक किसी बंगला भाषी नागरिक से बातचीत करता है तो बंगला भाषी नागरिक भी उससे हिन्दी में बातचीत करने की कोशिश करता है।

[घ] हिन्दी भाषी समुदाय :

हिन्दी भाषी समुदाय का आशय उस मानव समुदाय से है जिनका अधिकांश विचार-विनियम हिन्दी भाषा में होता हो। बहुत से अंग्रेजी पत्रकार 'काउबेल्ड' या हिन्दी

बेल्ट की चर्चा अक्सर करते हैं। इसी रूप में वे हिन्दी प्रदेश का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उसे उन्होंने घृणा के साथ काउबेल्ट तो कहा मगर उसके अस्तित्व को नकार नहीं पाए। इस बेल्ट को पहले 'मध्य देश' और फिर बाद में हिन्दुस्तान कहा जाने लगा। हिन्दी शब्द का व्यवहार प्रारम्भ से ही भाषा और मानव समुदाय दोनों के लिए होता रहा है। 'मीर' जैसे उर्दू कवि पहले अपनी भाषा को हिन्दी ही कहते थे और 'इकबाल' ने पूरे मानव समुदाय को ही 'हिन्दी' कहा (हिन्दी हैं हमवतन हैं हिन्दोस्ताँ हमारा) है। वस्तुतः हिन्दी भारत के सर्वाधिक लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा है। व्यवहार में हिन्दी उस बड़े भू-भाग की भाषा मानी जाती है जिसकी सीमा पश्चिम में जेसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण-पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती है। इस विशाल भू-भाग के निवासियों के साहित्य, पत्र-पत्रिका और संवाद की भाषा हिन्दी है जिसमें स्थानीय बोलियों की भी कुछ छाया मिली रहती है। आज जिसे हम 'हिन्दी भाषा का क्षेत्र' कहते हैं उसमें अनेक राज्य और संघशासित राज्य शामिल हैं—(राज्य)— उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, बिहार, झारखंड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली। (संघ शासित राज्य)— चंडीगढ़ और अंडमान-निकोबार द्वीप समूह। जिसे हम 'हिंदी क्षेत्र' कहते हैं, उसमें सामान्य जनता इस क्षेत्र में बोली जाने वाली बोलियों में ही विचार विनियम करती हैं। राजस्थान में बोली जाने वाली उपभाषाओं के समूह को 'राजस्थानी' जिसमें कहते हैं जिसमें मारवाड़ी, मेवाड़ी, मालवी, हाड़ौती, जयपुरी आदि बोलियाँ हैं। बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में बोली जाने वाली उपभाषाओं के समूह को 'बिहारी' कहते हैं जिसमें भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि भाषाएं आती हैं। इसी तरह उत्तर में पहाड़ी प्रदेशों की बोलियों/उपभाषाओं के समूह को 'पहाड़ी' कहते हैं जिसमें पश्चिम में हिमाचल प्रदेश की बोलियाँ, मध्य में उत्तर प्रदेश की गढ़वाली-

कुमाऊँनी तथा पूर्व में नेपाली है। गौरतलब बात यह है कि 'नेपाली' पृथक स्वतंत्र राष्ट्र नेपाल की भाषा तो है ही, साथ ही भारत के उत्तरी बंगाल, सिक्किम, नेपाल के तराई प्रदेश में व्यवहृत होने के कारण अब हमारे संविधान की अष्टम् अनुसूची में मान्यता प्राप्त कर चुकी है। उपर्युक्त तीनों समूहों के मध्य जो क्षेत्र है, वह भौगोलिक दृष्टि से दो भागों में बँटा हुआ है। पहला - पश्चिम हिन्दी : खड़ी बोली, कन्नौजी, बुंदेली, ब्रज बांगरू इन पाँच भाषाओं का समूह है जबकि दूसरे समूह (पूर्वी हिंदी) में : अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी बोली आती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 'हिन्दी भाषा' का क्षेत्र सिर्फ हिन्दी भाषी क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं है। बल्कि इसका प्रभाव देश-देशांतर तक है। आज यह भारत के सभी भागों में बोली और समझी जाने लगी है। हैदराबाद और मुंबई जैसे महानगरों के नागरिक तो अब इसका व्यवहार एक संपर्क भाषा के रूप में करने लगे हैं। इसके अतिरिक्त भारत के बाहर मॉरिशस, फिजी, त्रिनिदाद, गायना, सूरीनाम, और दक्षिण अफ्रीका जैसे देशों में भी हिन्दी का व्यवहार हो रहा है। सोवियत संघ में ताजिकिस्तान-उजबेकिस्तान की सीमा से लगे हुए जो हिन्दी भाषी क्षेत्र हैं उनकी स्थिति थोड़ा भिन्न है। वे लोग आपस में तो 'मिश्रित हिन्दी' (पंजाबी, भोजपुरी, ब्रज और अवधी आदि) का प्रयोग करते हैं किंतु वहाँ के नागरिकों से वे उनकी ही बोली में बातचीत करते हैं। इन्हें हिन्दी के मानक रूप का सही-सही ज्ञान नहीं है। उपर्युक्त विवेचन से यह आभास होता है कि हिन्दी धीरे-धीरे देश में ही नहीं अपितु देश के बाहर भी प्रतिष्ठित हो रही है।

[ड] भाषा, समाज और संस्कृति का अन्तःसंबंध :

भाषा, समाज और संस्कृति के संबंधों पर ऊपर काफी व्यापक चर्चा हुई है यहाँ यह जान लेना ही पर्याप्त है कि भाषा, समाज और संस्कृति में से अगर कोई एक भी तत्व कमजोर हो जाए तो विकास के इस महाकुंभ में समूची मानव जाति पिछड़

जायेगी। इन तीनों तत्वों को विकास का प्रश्न मानव जाति के विकास के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। हिन्दी प्रदेश की सांस्कृतिक एकता कमजोर होने के नाते ही अहिन्दी भाषी लोग उन्हें पर्याप्त सम्मान नहीं देते, जबकि संख्या में वे अहिन्दी भाषियों से बहुत आगे हैं।

[च] हिन्दी-उर्दू संबंध :

शमशेर ने कभी कहा था— 'हमारी ही हिन्दी हमारी ही उर्दू।' 'पं० कामताप्रसाद गुरु' ने हिन्दी-उर्दू संबंधों पर विचार करते हुए लिखा कि— "हिंदी और उर्दू मूल में एक ही भाषा है। उर्दू हिन्दी का केवल मुसलमानी रूप है। आज भी कई शतक बीत जाने पर, इन दोनों में विशेष अंतर नहीं, पर इनके अनुयायी लोग इस नाममात्र के अंतर को वृथा ही बढ़ा रहे हैं। यदि हम लोग हिंदी में संस्कृत के और मुसलमान उर्दू में अरबी फारसी के शब्द कम लिखें तो दोनों भाषाओं में बहुत थोड़ा भेद रह जाय और संभव है, किसी दिन दोनों समुदायों की लिपि और भाषा एक हो जाय। धर्म भेद के कारण पिछली शताब्दी में हिन्दी और उर्दू के प्रचारकों में परस्पर खींचातानी शुरू हो गई। मुसलमान हिन्दी से घृणा करने लगे और हिन्दुओं ने हिन्दी के प्रचार पर जोर दिया। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी में संस्कृत शब्द और उर्दू में अरबी फारसी के शब्द मिल गये और दोनों भाषाएं क्लिष्ट हो गईं। इन दिनों कई राजनीतिक कारणों से हिन्दी उर्दू विवाद और भी बढ़ रहा है, और 'हिन्दुस्तानी' के नाम से एक खिचड़ी भाषा की रचना की जा रही है, जो न शुद्ध हिन्दी होगी और न शुद्ध उर्दू।"¹

'डॉ० मुश्ताक अली' के लेख 'उर्दू-हिन्दी का झगड़ा भी एक अहम मसला है' में 'प्रेमचंद' का यह कथन भी अवलोकनीय है— "मेरे ख्याल में हिन्दी और उर्दू दोनों एक ज़बान हैं। क्रिया और कर्ता, फेल और फाइल, जब एक हैं, तो उनके एक होने में

1 हिन्दी व्याकरण— पं० कामता प्रसाद गुरु, पृष्ठ सं० 19,

कोई संदेह नहीं हो सकता। उर्दू वह हिन्दुस्तानी ज़बान है, जिसमें फ़ारसी-अरबी के लफ़्ज़ ज़्यादा हों, उसी तरह हिन्दी वह हिन्दुस्तानी है जिसमें संस्कृत के शब्द ज़्यादा हों। लेकिन जिस तरह अंग्रेज़ी में चाहे लैटिन या ग्रीक शब्द अधिक हों या एंग्लोसेक्सन, दोनों ही अंग्रेज़ी हैं, उसी भाँति हिन्दुस्तानी भी अन्य भाषाओं के शब्दों में मिल जाने से कोई भिन्न भाषा नहीं हो जाती। साधारण बातचीत में तो हम हिन्दुस्तानी का व्यवहार करते ही हैं।¹ हिन्दी उर्दू संबंध पर विचार करते हुए 'अशोक वाजपेयी' कहते हैं कि "उर्दू और हिन्दी के बीच जो आवाजाही थी वह इस बीच बाधित तो नहीं हुई है लेकिन इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारत में उर्दू ने अपने को सिकोड़ा है। यही बात पाकिस्तानी उर्दू को लेकर, सौभाग्य से सही नहीं है। पाकिस्तान की प्रसिद्ध पत्रिकाओं ने कई हिन्दी लेखकों जैसे निर्मल वर्मा, उदयप्रकाश, कमलेश्वर आदि को लेकर बड़े विशेषांक प्रकाशित किये हैं। भारत में ऐसा न हो पाना दुःखद है।"² इसी सिलसिले में 'डॉ० सैयद महमूद' का कहना है कि "उर्दू को मुसलमानों की भाषा समझने की गलती अभी भी लोग करते हैं। वास्तव में उर्दू का जन्म भारत में हुआ और हिन्दी तथा संस्कृत का इस पर काफी प्रभाव पड़ा है। जब हिन्दी को सरल से सरल बनाया जायेगा तभी इसका प्रचलन हो सकेगा। आज हिन्दी को 'सख्त' बनाने की कोशिश ही की जा रही है, जो उचित नहीं है। मैं इस पक्ष में नहीं हूँ कि हिन्दी के व्यवहार के लिए कोई अंतिम तिथि निश्चित की जाय। लोगों में स्वयं हिन्दी के प्रति प्रेम चलेगा और वे इसे अपने व्यवहार की भाषा बना सकेंगे। मुसलमानों ने अगर हिन्दी में अपने धार्मिक साहित्य का अनुवाद कर दिया होता तो हिन्दू-मुसलमानों के बीच फैली हुई बहुत सी भ्रान्तियों का आज समाधान हो गया होता। हिन्दी न तो हिन्दू-मात्र

¹ बतकही-संयुक्तांक 2-3, जून 2004, प्रधान संपादक-अमित एस. परिहार, पृष्ठ सं० 101

² नया पथ - वर्ष 22, जु०सि० 2008 अंक 3, संपादक मु०म० प्रसाद सिंह, चंचल चौहान, पृष्ठ सं० 100

की भाषा है और न ही उर्दू मुसलमान-मात्र की। उर्दू के रचे हुए गीत भी हिन्दू लोग भजन के रूप में गाते हैं और आज उर्दू के जितने अच्छे कहानीकार हैं, वे हिन्दू ही हैं¹ हिन्दी उर्दू मामले में हस्तक्षेप करते हुए 'डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव' कहते हैं कि "...भाषा के रूप में 'उर्दू' शब्द का प्रयोग हमें अठारहवीं शती तक नहीं मिलता, जबकि मुसलमानों का आगमन और साथ ही फारसी का राजभाषा के पद पर आसीन होने का इतिहास लगभग छह-सात सौ साल पुराना है। उर्दू का जन्म कब हुआ, यह सैयद इंशा की 'दरियाए-लताफ़त' (1808 ई०) और मुहम्मद बाकर 'आगाह' (1743-1805 ई०) की कलम से बहुत कुछ साफ हो जाता है, जो यह मानते हैं कि उर्दू 'भाषा' का आविष्कार मुहम्मदशाह रंगीले के शासन-काल में हुआ। बोली के अनुसार उर्दू शब्द का प्राचीनतम प्रयोग मसहफी की रचना में मिलता है, जिनका जीवन-काल 18वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इतिहास बताता है कि 1347 में बहमनी राज्य की स्थापना हुई, और अगर 'तारीखे-फरिश्ता' की बात ठीक मानें तो बहमनी बादशाह के राज्य में हिसाब-किताब हिन्दी में ही होता था। हिन्दी के उर्दू तबका लगाकर जो उसे मुसलमान जाति से जोड़ते हैं, उन्हें बाबूराम सक्सेना के इस प्रमाण-वाक्य को ध्यान से पढ़ने की जरूरत है; कि "जिस बोलचाल की भाषा में अमीर खुसरो और शेख फ़रीदुद्दीन शंकरकंजी आदि प्रारम्भ काल के कलाकारों ने रचना की और जिसका साहित्य उत्तर भारत में लुप्त होकर दक्खिन में 15वीं, 16वीं, और 17वीं सदी में फूट निकला, उसका नाम हिंदवी और हिन्दी था और उसी को दक्खिनी साहित्यकार दक्खिनी कहते हैं।" उर्दू नाम दक्खिनी के किसी भी कलाकार के ग्रंथ में नहीं आया। चाहे दक्खिन हो या उत्तर, 18वीं शती के पहले तक हम 'उर्दू' नाम का पता नहीं पाते। अमीर से लेकर 'मीर तक इस जबान को 'हिन्दी' नाम से ही हम लिखा पाते हैं। अमीर खुसरो का कहना है— "मैं हिंदुस्तानी तुर्क हूँ, और हिन्दी में जबाब दे सकता

¹ राष्ट्रभाषा विचार संग्रह-संपादक- डॉ० न०चिं० जोगलेकर, पृष्ठ सं० 76

हूँ। मेरे पास मिस्र की शकर नहीं है कि अरब की बात करूँ।” और ‘मीर’ सरुरेकल्ब का पता इसलिए नहीं जानते, क्योंकि वह “आया नहीं है लफ्ज ये हिन्दी जबाँ के बीचा।” xxx हिन्दी और उर्दू एक भाषा है, उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं। वह केवल फारसी लिपि में लिखी जाने वाली खड़ी बोली हिन्दी का ही एक रूप है, जिसने अरबी-फारसी शब्दावली और काव्य-रूढ़ियों को किसी खास ऐतिहासिक परिस्थिति में विशेष रूप से अपनाया। हिन्दी और उर्दू एक ज़बान है, उनके बोलने वालों की जमीन एक है— इस बात को गाँधी जी जैसे नेता ने भी कहा है, प्रेमचंद ऐसे साहित्यकार ने भी बताया है और केलकर ऐसे भाषाविद् ने भी समझाया है। एक ने उसकी आधारभूत एकता को ‘हिन्दुस्तानी’ नाम से पकड़ना चाहा और दूसरे ने ‘हिन्दू’ शब्द गढ़कर।¹ वस्तुतः ध्वनि-उच्चारण में मात्र पाँच विशिष्ट ध्वनियाँ—क़, ख़, ग़, ज़ तथा फ़ उर्दू में हैं जिसमें से ज़ और फ़ (अंग्रेजी के कारण भी) अब हिंदी भाषा का अनिवार्य अंग बन चुकी है। ध्यान से देखने पर किसी भी भाषा की बोलियों में जितना अंतर दिखाई देता है उससे कम ही अंतर हम हिन्दी-उर्दू में देखते हैं। हिन्दी-उर्दू का एक सामान्य आधार बोल-चाल की खड़ी बोली है। इस खड़ी बोली में अरबी-फारसी के कुछ शब्द या बहुत शब्द आ मिलने से कोई नयी भाषा नहीं उपज गयी। यह खड़ी बोली मुसलमानों के आने से पूर्व थी, उनके शासन काल में भी रही और आज भी मौजूद है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हम जितना ही पुराने जमाने के उर्दू साहित्यकारों की रचनाएं पढ़ते हैं उतना ही कम उसमें हम अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग देखते हैं। किंतु बीसवीं सदी में आते ही अरबी-फारसी शब्दों की संख्या अचानक बढ़ जाती है। शब्दों के कम और ज्यादा होने का यह अनुपात लगभग 05 : 50% का है। आशय यह कि ज्यों-ज्यों दोनों संस्कृतियों का मेलजोल बढ़ा त्यों-त्यों हिन्दी-उर्दू का विवाद गहराता गया। प्रारम्भ में अलगाव का अहसास न होने से ही उर्दू के मुस्लिम कवि अपनी भाषा

1 हिन्दी भाषा का समाजशास्त्र— रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, पृष्ठ सं० 106, 07, 08

को हिन्दी की रेखा कहते थे। अंग्रेजी चालबाजियों के विरुद्ध हिन्दी-उर्दू के सजग साहित्यकार इस बात के लिए हमेशा प्रयासरत रहे कि हिन्दी-उर्दू घुलमिल कर एक साथ रहें। ऐसे लोगों में 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र' और 'प्रेमचंद' अग्रगण्य हैं। दोनों को हिन्दू-मुस्लिम की सांस्कृतिक एकता पर अटूट विश्वास था और इसी विश्वास के बदौलत उन्होंने हिन्दी-उर्दू में ऐक्य स्थापित करवाया था और राजनीति के क्षेत्र से गाँधीजी ने 'हिन्दुस्तानी' आंदोलन चला कर इस ऐक्य को मजबूत बनाया था। हिन्दी-उर्दू की एकता पर विचार करते हुए 'आचार्य रामविलास शर्मा' लिखते हैं कि—

“हिन्दी-उर्दू को एक होना चाहिए— यह हमारे ऐतिहासिक विकास की माँग है। इसके लिए आवश्यक सांस्कृतिक आधार यह है कि साधारण जनता की बोलचाल की भाषा एक है। हमें इस एकता की ओर बढ़ने के लिए मजबूर करने वाला सामाजिक कारण देश का पिछड़ापन, जनता की गरीबी, समाजवादी निर्माण की आवश्यकता है। इसके सिवा यह भी याद रखना चाहिए कि भारत के हर प्रदेश का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन अलग-थलग रहकर विकसित नहीं होता, वह अखिल भारतीय जीवन-प्रवाह की एक धारा है और उस प्रवाह के साथ ही आगे बढ़ता है। यहाँ की भाषाएँ भी एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं, करती रही हैं और करेंगी। भारत के हर जातीय प्रदेश की भाषा और लिपि एक हो, लेकिन हिन्दी प्रदेश की दो लिपियाँ और दो भाषाएँ हों, यह सम्भव नहीं है।”¹

[छ] लोक संस्कृति और हिन्दी-उर्दू भाषाएं :

कोई भी संस्कृति अचल और जड़ नहीं होती। और किसी भी संस्कृति का निर्माण लोक की परिधि से बाहर नहीं होता। 'लोक' संस्कृति का प्राण तत्त्व होता है, और भाषा संस्कृति की वाहक होती है। संस्कृति अपने मौखिक एवं लिखित साहित्य के

1 भाषा और समाज— रामविलास शर्मा, पृष्ठ सं० 331-32

जरिए मानव-मूल्यों के उस पुंज को लेकर चलती है जिसके द्वारा हम अपने आप से साक्षात्कार करते हैं और विश्व को अपनी स्थिति का बोध कराते हैं। लोक संस्कृति पर विचार करते हुए 'श्यामाचरण दुबे' ने कहा कि—“नगरीकरण की प्रक्रिया ने लोक-संस्कृतियों को पूरी तरह विश्रृंखल और विनष्ट तो नहीं किया, पर उनके स्वरूप और गठन में महत्त्वपूर्ण बदलाव अवश्य आये। नगर और ग्राम-संस्कृतियों का सह-अस्तित्व बना रहा और संसार के कई भागों में सावयवी संबंध विकसित हुए। कस्बाई और छोटे नगरों की संस्कृति ग्रामीण संस्कृति से बहुत अलग नहीं थी। बड़े नगरों और महानगरों के जीवन में भी लुके-छिपे लोक-संस्कृति के कुछ तत्व बने रहे। औद्योगीकरण ने लोक-संस्कृतियों और लोक-कलाओं के सामने एक नयी चुनौती प्रस्तुत की। इसके प्रभाव से लोक संस्कृतियाँ लुप्त तो नहीं हुई, पर उन्हें एक नयी उभरती संस्कृति से अपना अनुकूलन करना पड़ा। xxx आधुनिकीकरण की आँधी ने लोक-संस्कृतियों और लोक-कलाओं को बुरी तरह झकझोरा। सामूहिकता के हास, विशेषीकरण के उदय और जीवन के पक्षों के अंतरावलंबन के बदलते स्वरूपों ने लोक-संस्कृति और लोक-कला के प्रकार्यों को ही बदल दिया। मनोरंजन के नये रूप विकसित हुए। सौंदर्यबोध और कलात्मक सृजन ने नयी दिशाएँ अपनायी, शिक्षा की विषयवस्तु बदली और विशेषीकृत शैक्षिक संस्थाओं ने जन्म लिया।”¹ 'लोक और संस्कृति' दो अलग-अलग जीवन-वृत्तों और विचारधाराओं की संयुक्त चेतना का परिणाम है। 'लोक' शब्द 'संस्कृति' शब्द से लगभग सैकड़ों वर्ष पुराना है। 'संस्कृति' शब्द का पहले पहल प्रयोग शुक्ल यजुर्वेद में 'संस्कार' के रूप में आया, जबकि 'लोक' शब्द ऋग्वेद में मिलता है। 'लोक-संस्कृति' शब्द पर विचार करते हुए 'डॉ० भवदेव पाण्डेय' कहते हैं कि— “'लोक' आदमी मानव-समाज द्वारा की गई पृथ्वी-संविदा की सहज चेतना के रूप में मूर्त हुआ था जबकि 'संस्कृति' शब्द प्रकृत व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को संस्कृत करने की संस्कार-

¹ समय और संस्कृति-श्यामाचरण दुबे, पृष्ठ सं० 75

चेतना का परिणाम था। इसलिए यह कहना अधिक संगत होगा कि लोक-संस्कृति प्रकृत और संस्कृत जीवन-पद्धतियों का समाजशास्त्रीय समाहार है। उसे दो भिन्न-भिन्न चित्तवृत्तियों के सह-अस्तित्व-भाव के पाठ के रूप में पढ़ा जाना चाहिए। यह दो समुदायों के उपपद होने का बेमिसाल कदम है।¹ लोक और संस्कृति में परस्पर ग्रहण और त्याग का भाव है। लोक देता है, संस्कृति ग्रहण करती है। लोक आत्मदान करता है। संस्कृति शास्त्र बन जाती है। लोक मौखिक होता है किंतु संस्कृति लिखित होती है। इसी द्विधात्मकता में संस्कृति का विकास होता है। समकालीन विचारक 'लोक संस्कृति' को अंग्रेजी के फोक कल्चर (Folk Culture) का हिन्दी रूपान्तर मानते हैं। ऐसे विचारकों ने लोक-संस्कृति के विकास-क्रम पर ध्यान न देकर ऐतिहासिक साक्ष्यों की अनदेखी की है। 'संस्कृति' का पर्याय 'कल्चर' किसी भी मूल्य में नहीं हो सकता क्योंकि शब्द-योनि की दृष्टि से 'संस्कृति' पद संश्लेषणात्मक प्रक्रिया का संकेत है जबकि 'कल्चर' विश्लेषणात्मक शब्द है। गंभीरता से देखने पर सामाजिक संपादन के धरातल पर 'संस्कृति' और 'कल्चर' एक दूसरे के विलोमार्थी हैं। ऐसी स्थिति में लोक संस्कृति का ऐतिहासिक पाठ जरूरी है। 'लोक' शब्द 'संस्कृति' शब्द से बहुत पुराना है। 'लोक' का प्रयोग ऋग्वेद के 9वें मंडल के 113वें सूक्त की सातवीं नवीं तथा ग्यारहवीं ऋचाओं में हुआ है। लोक-संस्कृति में 'लोक' और 'संस्कृति' एक दूसरे के पूरक के रूप में व्यवहृत होते हैं। लोक स्वाभाविक जीवन का ऋजु प्रवाह है और जब यही स्वाभाविक जीवन विधि से अनुशासित हो जाता है तो इसके विकसित रूप को संस्कृति कहा जाता है। यदि हम उत्पाद और उपभोग की दृष्टि से 'लोक' और 'संस्कृति' पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि 'लोक' पृथ्वी चेतना और 'संस्कृति' अग्नि चेतना के रूपक हैं। 'लोक' ने भूमि को अधिक महत्व देते हुए पृथिवी-धर्म से जोड़ा। लोकतत्व का जितना बड़ा स्रोत अथर्ववेद में मिलता है उतना पूरे भारतीय वाङ्मय में उपलब्ध नहीं है। कहना न होगा

1 कथाक्रम, जनवरी-मार्च 2009, वर्ष 10 अंक 39, संपादक— शैलेन्द्र सागर, पृष्ठ संख्या 47,

कि लोक-संस्कृति समाजशास्त्रीय इतिहास की अभूतपूर्व घटना है। यदि भारतीय सामाजिक जीवन में लोक और संस्कृति एक दूसरे के पूरक के रूप में नहीं विकसित हुए होते तो संभवतः यह देश बहुत पहले खंड-खंडों में विभाजित हो गया होता। लोक ने संस्कृति का विकास माता-पिता के रूप में किया है। वैश्वीकरण से यद्यपि लोक संस्कृति और स्थानीयता जैसे शब्द प्रभावित हुए हैं तथापि अभी भी यह बात सत्य है कि लोक संस्कृति आज भी हमारी जीवन संस्कृति की नींव है। वह सिर्फ मनोरंजन का साधन नहीं है अपितु समग्रता में उपदेश, नीति, शिक्षा एवं विकास की लोकवादी अवधारणाओं का सतत वहन भी करती है। यदि इसके सांस्कृतिक स्रोतों को क्रमशः सूचीबद्ध करें तो भौतिकवादी विकासपरक धारणा को लेकर चलने वाले अभिजात्य वर्ग में विकसित इसकी मनोरंजकता का 'मिथ' स्वतः टूट जाएगा और 'लोक' को असभ्य अविवेकी और अवैज्ञानिक समझ कर नजरअंदाज करने वाले लोग अपनी दृष्टि में परिवर्तन लाकर 'लोक' और 'शास्त्र' से संवाद कायम करने की कोशिश करेंगे। वस्तुतः लोक संस्कृति के मूल में उसका 'लोक विवेक' क्रियाशील रहता है। यही लोक विवेक प्रकारान्तर से लोक संस्कृति के विभिन्न अनुषंगों-लोकगीत, लोकायन एवं कर्मकाण्ड आदि में प्रवाहित होकर जनता के दैनिक जीवन में गतिशील रहता है। लोक विवेक और लोक संस्कृति की यही गतिशीलता उसे परंपरा और लोक स्मृति का अमिट रूप देती है जिसकी वर्तमान समय में उपेक्षा हो रही है। यह उपेक्षा व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों के लिए हानिकारक है।

लोक-संस्कृति और हिन्दी-उर्दू भाषाओं के संदर्भ में जो सबसे महत्वपूर्ण बात है वह यह कि लोक-संस्कृति हिन्दू-मुस्लिम का भेद नहीं मानती और जब जाति एक है संस्कृति एक है तो भाषा के दो होने का कोई सवाल ही नहीं उठता है। ऊपर मैंने इस विषय पर बहुत चर्चा की है अब इस संदर्भ में सिर्फ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

हिन्दू संस्कृति की अभिव्यक्ति

1. ईश्वर की कृपा है।
2. हे भगवान।
3. कहिए, मिजाज कैसा है?
4. आज शाम को एक सभा में भाषण देना है।

मुस्लिम संस्कृति की अभिव्यक्ति

1. खुदा का शुक्र है।
2. हाय अल्ला।
3. कहिए, क्या हालचाल है।
4. आज शाम को एक जलसे में तकरीर करनी है।

ध्यान से देखने पर इन दोनों भाषाओं में कोई सैद्धांतिक अंतर प्रतीत नहीं होता। हम सिर्फ अपने व्यवहार से इन दोनों भाषाओं में भेद पैदा करते हैं।